शोध मंथन Vol. XIV No.IV Oct.-Dec. 2023 ISSN: (P) 0976-5255 (e) 2454-339X
Available at: *http:shodhmanthan.anubooks.com*

नागार्जुन के हिंदी उपन्यासों में ग्राम–चेतना (1947–1960)

प्राप्तिः 19.11.2023
स्वीकृतः 24.12.2023

डॉ० मुकुल शर्मा
एसोसिएट प्रोफ़ेसर, हिन्दी विभाग
श्री वेंकटेश्वर कॉलेज, दिल्ली
दिल्ली विश्वविद्यालय
ईमेलः *dr.mukulsharma64@gmail.com*

80

'चेतना' मूलतः मनोविज्ञान का शब्द है और हिंदी में इसका प्रयोग 'कॉन्शसनेस' के पर्याय–रूप में किया जाता है। 'चेतना' का अर्थ है–अपनी अस्मिता और सत्ता का बोध। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, जिसकी चेतना को उसके समय, अनुभव, आचार–विचार, जीवन–संघर्ष, सक्रियता, संवेदनशीलता, जागरूकता आदि से पहचाना जाता है। गाँव निर्जीव नदी–नालों, पर्वतों, मार्गों–पगडंडियों, झोंपड़ियों–मकानों और खेतों से मिलकर नहीं बनते। वे वहाँ के निवासियों से मिलकर बनते हैं। इन निवासियों के जीवन की चेतना का ही नाम ग्राम–चेतना है। इस चेतना का लक्षण इनकी जागृति, अधिकारों के प्रति सजगता और संघर्श के लिए कटिबद्धता है। जागरण और संघर्श का परिणाम परिवर्तन होता है, जो ग्राम–चेतना का ही अंश है। गाँव का समूचा परिवेश, जीवन, यथार्थ, समस्याएँ आदि इस चेतना के ही विविध रूप हैं। चेतना अपने आप में कोई निरपेक्ष तत्त्व नहीं है, बल्कि वह आसपास के वस्तु–जगत् से जुड़कर निर्मित और विकसित होती है। अनेक शास्त्र विभिन्न दृष्टियों से गाँव की चेतना को जानने–समझने का प्रयास करते हैं। इनमें अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, मानवशास्त्र, इतिहास इत्यादि प्रमुख हैं। साहित्य (विशेषकर उपन्यास) का भी अपना एक दृष्टिकोण होता है। इस प्रकार, ग्राम–चेतना में लेखकीय चेतना (दृष्टि) भी अनिवार्य रूप से शामिल हो जाती है।

1947 से 1960 तक फैली तेरह वर्षीय आलोच्यावधि में वैद्यनाथ मिश्र 'यात्री' उर्फ़ नागार्जुन के 'रतिनाथ की चाची' (रचनाकाल : 1947, प्रकाशन : 1948, इसका द्वितीय संस्करण 1967 और लेखक द्वारा अंतिम रूप से प्रमाणित तृतीय संस्करण 1985 में छपा) 'बलचनमा' (1952, यह लेखक के मैथिली उपन्यास 'बलचनमा' का लेखककृत हिंदी–रूपांतर है), 'नई पौध' (1953, इसके किंचित् परिवर्तन के साथ 1984 में छपे संस्करण को लेखक ने अंतिम रूप से प्रामाणिक माना है। यह स्वयं लेखक द्वारा किया गया अपने मैथिली उपन्यास 'नवतुरिया' का हिंदी रूपांतर है), 'बाबा बटेसरनाथ' (1954), 'दुखमोचन' (1957) और 'वरुण के बेटे' (यह 'संकेत' नामक साहित्य–संकलन में 1956 में छपा, पुस्तकाकार प्रकाशन : 1957) बहुचर्चित हैं।

मैथिली भाशा के प्रेमचंद कहे जाने वाले नागार्जुन (1911–1998) हिंदी के प्रथम श्रेणी के लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार हैं। यदि यह कहना सत्य है कि भारत की आत्मा गाँवों में बसती है तो यह कहना इस सत्य को रेखांकित करना है कि नागार्जुन के उपन्यासों में इस महादेश की आत्मा साकार हो उठी है। नागार्जुन प्रेमचंद के बाद हिंदी उपन्यासों की प्रगतिशील और यथार्थवादी परंपरा में सबसे समर्थ हस्ताक्षर हैं। उनके कथानकों का विन्यास परंपरावादी है और उनका चयन भी प्रगतिशील

परंपरा के अनुसार जन–सामान्य से किया गया है। भारतीय गाँव का शोषण से भरा जीवन उनके उपन्यासों का मूल विषय है। देहात के जीवन से उनका गहरा और घनिष्ठ परिचय है। गाँवों के प्रति एक गहरी आत्मीयता और परिवेश की निकट पहचान का भाव ही उनकी कथाकृतियों का सबसे बड़ा आकर्षण है। उन्होंने मिथिला के लोक–जीवन को उसके समस्त सुख–दुःख, आशा–निराशा, संघर्श–विद्रोह के साथ चित्रित किया है। गाँवों के दुखियों और उपेक्षितों के प्रति उनमें व्यापक सहानुभूति है। डॉ॰ जवाहर सिंह के शब्दों में, "पीड़ित–शोशित और अन्याय की शिकार जनता को हर तरह के शोषण, दमन और अनाचार के खिलाफ़ एकजुट होकर प्रतिशोधक मोर्चाबंदी के लिए तैयार करना ही उनके उपन्यासों का मुख्य लक्ष्य है। नागार्जुन को जनता की सामूहिक संघर्ष–चेतना और उसकी अपराजेयता में अटूट विश्वास है। उनका दृढ विश्वास है कि ग़रीबी, शोषण, दमन और उत्पीड़न के खिलाफ़ जनता स्वयं लड़कर ही विजय हासिल कर सकती है। लेकिन इसके लिए उसे एकजुट होकर प्रतिक्रियावादी शक्तियों से, चाहे वे राजनीतिक हों या सामाजिक अथवा धार्मिक, लड़ना होगा।"[1]

वे यह भी लिखते हैं कि "नागार्जुन ने अपने उपन्यासों की कथा–भूमि के रूप में अगर एक अंचल–विशेष को चुना है तो इसका एक कारण तो यह है कि इस अंचल के निवासी होने के फलस्वरूप इसके साथ उनकी गहरी आत्मीयता तथा सुदीर्घ सान्निध्य है और यहाँ की सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों तथा समस्याओं से वह जितनी गहराई से जुड़े रहे है, उतना और किसी अंचल के जीवन–संदर्भों से नहीं। और दूसरा कारण यह भी है कि बिहार का यह अंचल–विशेष – मिथिलांचल – सर्वाधिक सघन आबादी तथा अनियंत्रित नदियों की बाढ़ के कारण अपेक्षाकृत अधिक विपन्न तथा अभावग्रस्त भी है। इसलिए यहाँ वर्ग–विषमता भी अधिक है और जीवनोचित सुविधाओं की प्राप्ति के लिए वर्ग–संघर्ष भी अधिक है। धार्मिक पाखण्ड, रूढ़िवादिता तथा वर्ण और वर्गजनित विषमता भी यहाँ पराकाष्ठा पर है। अतः समाजवादी समाज की स्थापना का उद्देश्य लेकर चलने वाले किसी लेखक को अपनी कृतियों के लिए कच्चा माल मिलने की यहाँ पर्याप्त सुविधा तथा अवसर है।"[2]

मधुरेश ने नागार्जुन की रचनाधर्मिता के वैशिश्ट्य को रेखांकित करते हुए लिखा है कि "उनका संपूर्ण साहित्य उन अत्यंत साधारण लोगों का साहित्य है, जो अपनी सारी मेहनत, निष्ठा और ईमानदारी के बावजूद एक घृणित और नारकीय जीवन जीने के लिए अभिशप्त हैं। लेकिन इस बात का अहसास उन्हें है कि उनका वास्तविक शत्रु कौन है, लड़ाई किस मोर्चे पर लड़नी है और जहाँ वे अपने ज़मीन पर अपने पैरों पर खड़े होकर अपने हथियारों से यह लड़ाई लड़ते हैं, लड़ सके हैं, वहीं आम आदमी की जद्दोजद की बड़ी प्रभावशाली तस्वीर, अपनी संपूर्ण वास्तविकता, यथार्थ और मानवीय गरिमा के साथ, अंकित की जा सकी है।"[3]

'रतिनाथ की चाची' (1948) नागार्जुन का पहला उपन्यास है, जिसकी कथा–भूमि उत्तरी बिहार के दरभंगा जनपद, जहाँ के स्वयं नागार्जुन हैं, का मिथिलांचल है और इसका कथा–काल 1937 से 1940 तक है। यह रतिनाथ की संतानवती निर्धन ब्राह्मण विधवा चाची गौरी देवी के अपमान और लांछन–भरे जीवन की व्यथा–कथा है। जयनाथ के रूप में लेखक के पिता और रतिनाथ के रूप में स्वयं लेखक का चरित्र प्रकट हुआ है। नायिका गौरी के रूप में उसकी सगी चाची की मौन व्यथा को वाणी मिली है। गौरी मातृहीन बालक रतिनाथ से बहुत प्रेम करती है। उसके दुःख–दर्द पर एकमात्र वही आँसू बहाता है। मरते समय, पुत्र के रहते हुए भी, वह अपना दाह–संस्कार करने का

अधिकार उसे ही दे जाती है। वह अंत तक उसे यह नहीं बताती कि उसके माथे पर कलंक लगाने वाला कोई और नहीं, स्वयं उसी का पिता जयनाथ है। विचारों से प्रगतिशील नागार्जुन चाहते तो जयनाथ और गौरी का विवाह करा सकते थे, पर उन्होंने इस कष्ट–कथा को दुःखांत बनाकर छोड़ दिया है। फिर भी, गौरी से इतना बड़ा अनर्थ हो जााने के बावजूद उसके प्रति पाठकों के मन में करुणा और सहानुभूति जगा देना नागार्जुन की मामूली सफलता नहीं है। उन्होंने उसे एक वात्सल्यमयी नारी के रूप में चित्रित कर उपन्यास के अंत तक उसके सारे दोशों का परिहार कर दिया है। कुल मिलाकर, रूढ़िवादी समाज द्वारा सतायी गई एक कुलीन विधवा के जीवन की करुण कथा कहना और उसके प्रति पाठकों के मन में दर्द जगाना ही कथाकार का लक्ष्य है। गौरी के माध्यम से पूरे भारतीय ग्रामीण समाज की शोशित नारी की जीवन–गाथा उद्घाटित हो गई है। कथाकार ने कृषकों में पनपती हुई वर्ग–संघर्श की भावना, ज़मींदारों द्वारा उनके शोशण, कांग्रेसियों के कुचक्र, किसानों की जागरूकता के प्रतीक नारे 'कमाने वाला खाएगा, इसके चलते जो कुछ हो' आदि के माध्यम से समाजवादी यथार्थवाद को ही व्यक्त किया है और मिथिला–क्षेत्र की संस्कृति, बोली–बानी, परिवेश, परंपराओं आदि से भी पाठकों को परिचित कराया है।

'बलचनमा' (1952) नागार्जुन का प्रतिनिधि और ठेठ अर्थों में समाजवादी चेतना का उपन्यास है। इसका घटना–स्थल दरभंगा है और घटना–काल है 1929 से 1937 तक। इसमें निम्नवर्गीय अहीर किसान–पुत्र बालचंद्र उर्फ़ बलचनमा (अपनी दादी का बालचन) अपनी चौदह से बाईस वर्ष तक की दुःख और यातना से भरी जीवन–कथा कहता है। दुत्कार, फटकार, गाली–गलौज और घृणा का जीवन उसे पैतृक दाय के रूप में मिलता है। बड़ा होकर वह भूमिहीन किसान–जीवन की समस्त पीड़ाओं और अभावों की यात्रा करते हुए भयानक सामाजिक–विषमताओं को भोगता है और अंत में धराशायी हो जाता है। पूरे उपन्यास में किसान का दुःख–दर्द ओर संघर्ष व्याप्त है तथा मानवीय अधिकारों को जकड़ने वाली शोषक–जर्जर मान्यताओं, वर्ग–व्यवस्थाओं और परंपराओं पर कलात्मक प्रहार किया गया है।"[4] बलचनमा में नागार्जुन ने नए विद्रोही किसान के दर्शन किए हैं।[5] अपनी माँ और दादी की तरह भाग्य को सारा दोश देकर मालिक–मालिकाइन को भगवान समझने का संस्कार उसमें नहीं है। उसमें विद्रोह की आग और वस्तुओं के तर्कपूर्ण विश्लेषण की बुद्धि है। ग़रीबी और अन्याय की मार ने उसे बचपन में ही अनास्तिक और उच्च वर्ग की नीचता के प्रति आक्रोशमय बना दिया है। वह श्रम का पक्का पुजारी है। अनेक प्रकार के शोशण–अन्यायों को भोगता हुआ अपने नंगे–भूखे श्रम के बल पर वह चरवाहे से बहिया (पुश्तैनी ग़ुलाम), बहिया से कांग्रेसी स्वयंसेवक, स्वयंसेवक नौकर से खेत–मज़दूर, खेत–मज़दूर से किसान और किसान से किसान–नेता बन जाता है।[6] "'बलचनमा' एक अर्थदास खेतिहर मज़दूर के क्रमशः ज़िंदगी की टक्करें खाते–खाते सजग राजनीतिक कर्मी बनने की कथा तो है ही, एक साधारण इंसान के धीरे–धीरे आत्मसजग होने और अपना भविष्य स्वयं बनाने में प्रवृत्त होने की कथा भी है।"[7]

बलचनमा निम्नवर्गीय कृषक–वर्ग का सच्चा प्रतिनिधि है। वह ज़मींदारों से लोहा लेने के लिए किसानों को निडर और संगठित होने के लिए कहता है, उन्हें अधिकारों के प्रति जागरूक बनाता है, उनमें आशा का संचार करता है और लक्ष्य–प्राप्ति के लिए क्रांति और संघर्ष का आह्वान करता है। बलचनमा को सामने रखकर लेखक भारत के असंख्य किसानों को उस–जैसा प्रगतिशील, साहसी, अन्याय के आगे न झुकने वाला, चरित्रवान् और जुझारु नेता बनने की प्रेरणा देता है। वह

मात्र शोषण ही चित्रित नहीं करता, संदेश भी देता है – 'उठो, अपने को पहचानो और विरोधी परिस्थितियों को परिवर्तित कर नया समाज बनाओ।' इसके साथ ही, मिथिलांचल की बोली–बानी, रीति–रिवाज (जैसे बलचनमा के गौने का सविस्तार अंकन), खान–पान, परिवेश, संस्कृति, लोकगीत आदि का सुंदर परिचय भी इस उपन्यास में मिलता है।

अरविन्द पाण्डेय ने बलचनमा को 'होरी की समाधि का बिरवा'[8] कहा है। इसमें संदेह नहीं कि "'बलचनमा' में देहाती जीवन के उस (खेतिहर मज़दूर) वर्ग को छुआ गया है, जिसे प्रेमचंद भी क़रीब–क़रीब छोड़ गए थे,"[9] लेकिन फिर भी होरी और बलचनमा के चरित्रों में मूलभूत अंतर है। होरी को हम परिस्थितियों के आगे झुकते, हारते और टूटते हुए देखते हैं, जबकि बलचनमा आरंभ से ही आशावान् दिखाई पड़ता है। होरी प्राचीन परंपराओं और अंधविश्वासों से ग्रस्त है, बलचनमा इन्हें नहीं मानता और बाहुबल पर विश्वास करता है। होरी भाग्यवादी और ईश्वरभीरु है, जबकि बलचनमा लड़–भिड़कर अपने अधिकार को लेना चाहता है। बलचनमा नागार्जुन का आदर्श पुत्र है, जबकि होरी प्रेमचंद का आदर्श नहीं, किसान–जीवन का यथार्थ है।[10]

डॉ॰ रणवीर रांग्रा ने बलचनमा को गोबर का संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण[11] कहा है, लेकिन "गोबर केवल ज़बान का दबंग है – व्यावहारिक जीवन में निर्बल, अशक्त, उद्देश्यहीन, आस्थारहित .. वह सामूहिक वर्ग की चेतना का प्रतीक नहीं, एक दुर्बल व्यक्ति–मात्र है,"[12] जबकि बलचनमा सच्चे अर्थों में एक वामपंथी चरित्र है, जिसमें गोबर से अधिक ईमानदारी, उत्तेजना और कुछ कर दिखाने का जोश है। यों भी, समग्रतः देखें तो, जहाँ प्रेमचंद की संवेदना अत्यंत व्यापक है, वहाँ नागार्जुन का फलक प्रेमचंद से छोटा और सीमित है।

यह उपन्यास यथार्थवादी चित्रण–शैली का एक उत्कृष्ट नमूना है। "हिंदी उपन्यास–साहित्य में आंचलिक वातावरण–विधान में समर्थ आंचलिक भाषा का सर्वाधिक प्रयोग सबसे पहले इस उपन्यास में हुआ।"[13]

इस उपन्यास की कुछ सीमाओं की ओर विद्वानों ने संकेत किया है। जिस एक बात को लगभग सभी लोगों ने दोहराया है, वह है लेखक का मार्क्सवादी पूर्वग्रह। बलचनमा स्थान–स्थान पर समाजवादी सिद्धांतों की आवश्यकता से अधिक दुहाई देता है। वह प्रायः प्रगतिवादी लेखक की रूढ़ भाषा बोलने लगता है, जो विषयानुकूल होते हुए भी पात्रानुकूल नहीं होती। इसीलिए लेखक किसी भी कांग्रेसी या गांधीवादी को सहानुभूति नहीं दे पाया है। "उसमें वह संतुलित जीवन–दृष्टि नहीं है, जो प्रेमचंद में थी। एक वर्ग–विशेष के प्रति वह सहानुभूति से नितांत शून्य है। जिस सर्वहारा वर्ग की दलित, दयनीय अवस्था के चित्रण को उसने प्रमुखता दी है, उसके प्रति भी करुणा की भावना जगाने में वह असमर्थ रहा है। लगता है कि लेखक की प्रेरणा नितांत बौद्धिक है। हमारी आँखों के सामने निरंतर यथार्थ जीवन के अनेकानेक चित्र आते रहते हैं, किंतु हम उनमें कुछ देर रमते नहीं। जीवन के प्रति एक नितांत भौतिक दृष्टिकोण ही लक्षित होता है।"[14] 'नई पौध' (1953) का अर्थ है–गाँव की नई फ़सल यानी गाँव का नया ख़ून, युवा शक्ति, उदीयमान पीढ़ी। यह पीढ़ी गुणवती कन्या के लिए दहेज और सत्यपात्र की समस्या से जूझती है। इस उपन्यास की कथाभूमि मिथिलांचल का एक गाँव है। पुराने मैथिल पंडितों के वंशज खोखाई झा रुपये के लोभ में आकर अपनी छह रूपवती कन्याओं को अपात्रों के साथ ब्याह देते हैं और फिर अपनी चौदह वर्षीया सुंदर और गुणवती पितृविहीना नतिनी विश्वेश्वरी उर्फ़ बिसेसरी का विवाह पाँच लड़कों के

बूढ़े बाप चतुरानन चौधरी के साथ तय कर देते हैं। गाँव की पढ़ी–लिखी युवा पीढ़ी इस बेमेल संबंध को सारे गाँव के लिए शर्म की बात मानकर इसका विरोध करती है और अंत में चौधरी को गाँव से भगा देती है। विश्वेश्वरी का विवाह उसी के समवय एक प्रगतिशील नवयुवक के साथ हो जाता है। एक गाँव के छोटे–से रंगमंच पर प्राचीन और नवीन का यह संघर्श बहुत ही कुशलता के साथ चित्रित हुआ है। लेखक ने ग्रामीण युवा असंतोष को एक स्वस्थ और रचनात्मक दिशा प्रदान की है। अनमेल विवाह की समस्या आज भी हमारे गाँवों में विकराल रूप में मौजूद है। इस समस्या का विप्लवी समाधान नई पीढ़ी ही दे सकती है। 'बाबा बटेसरनाथ' (1954) का कथानायक कोई मानव–शरीरधारी नहीं, बल्कि एक बूढ़ा बरगद का पेड़ है, जिसके प्रति गाँव के लोगों की श्रद्धा वैसी ही है जैसी अपने किसी बड़े–बूढ़े के प्रति होती है, और इसीलिए वे उसे साधारण बरगद के नाम से नहीं, बल्कि आदरसूचक 'बाबा बटेसरनाथ' के नाम से पुकारते हैं। गाँव के दो सूदखोर किसानों द्वारा ज़मींदारी–उन्मूलन से डरे राजा बहादुर से बूढ़े बरगद वाली ज़मीन को चुपचाप अपने नाम लिखा लेने पर सारा गाँव घष्णा और क्रोध की आग में सुलग उठता है। बरगद को बचाने की सबसे अधिक चिंता जैकिसुन को होती है, क्योंकि उसे उसके परदादा ने लगाया था। एक दिन जब दिन–भर का थका–हारा जैकिसुन शाम को बरगद के नीचे आकर सो जाता है तो रात को घनी–हरी शाखाओं के झुरमुट में से बड़े–बड़े सफ़ेद बालों वाला एक विशालकाय मानव निकलता है। यही बूढ़ा जैकिसुन से अपने जन्म और विकास की कहानी कहते–कहते गाँव के सौ वर्शों का आँखों–देखा इतिहास कह डालता है। उससे प्रेरित होकर जैकिसुन अपने साथियों के साथ नई योजनाएँ बनाता है और साम्यवादी दल की सहायता से कांग्रेस को परास्त करता है। बरगद बाबा उच्च विचारोंवाला, भावुक हृदय, काव्य और संगीत का प्रेमी, आशावादी और नई पीढ़ी के प्रति आस्थालु चरित्र है। उसे साम्राज्यवादियों, ज़मींदारों और पूँजीपतियों से सख़्त नफ़रत है और किसानों और मज़दूरों से सच्चा प्यार। दरअसल, वह लेखक के लक्ष्य वर्गहीन समाज की स्थापना का पोषक और उसकी राजनीतिक विचारधारा का उद्घोषक है। उसका आत्मोत्सर्ग हमें महर्षि दधीचि की याद दिलाए बिना नहीं रहता। समय की दृष्टि से 'बाबा बटेसरनाथ' ही नागार्जुन का एकमात्र ऐसा उपन्यास है, जो एक लंबे कालखण्ड को समेटता है और सामाजिक परिवर्तन की एक लंबी प्रक्रिया को, सामंतवाद से अंग्रेज़ी उपनिवेशवाद (1942) तक, कथाबद्ध करने का प्रयास करता है। शिल्प की दृष्टि से यह एक नया प्रयोग है, जो नागार्जुन के बाक़ी उपन्यासों से कुछ अलग पड़ता है।

'दुखमोचन' (1957) ग्राम–सेवा की भावनाओं से युक्त एक छोटा, किंतु शक्तिशाली उपन्यास है, जिसमें स्वतंत्रता–परवर्ती ग्राम के पुनर्निर्माण और उसमें दुखमोचन–जैसे कर्मठ कार्यकर्त्ता के सफल एवं निःस्वार्थ नेतृत्व की गाथा यथार्थवादी ढंग से चित्रित हुई है। इसका आदर्शवादी मध्यवर्गीय नायक दुखमोचन नई युग–चेतना का संवाहक बनकर अंधरूढ़ियों और प्राचीन संस्कारों से ग्रस्त ग्राम–समाज में परिवर्तन लाने के लिए जो संघर्ष करता है, उसे रचनाकार ने बड़ी मार्मिकता के साथ अंकित किया है। यह मूलतः एक ऐसे पिछड़े गाँव की कहानी है, जहाँ युगों से निश्चल पड़ा जीवन नए युग का आलोक पाकर धीरे–धीरे जाग रहा है। 'वरुण के बेटे' (1957) चर्चित लघु उपन्यास है, जिसमें मिथिला की विशिष्ट गंध और रंग लिए स्थानीय मछुआरों के संघर्शपूर्ण जीवन और जागरण की सरस और रोमांचक कथा वर्णित है। उपन्यास में गिरते–मिटते सामंतवाद के विरुद्ध श्रमिक शक्ति का संघर्ष बहुत मार्मिक शब्दों में चित्रित हुआ है। प्रगतिशीलता, नवनिर्माण और ग्रामोन्नति के प्रबल समर्थक नागार्जुन ने अपनी कल्पना को मोहन माँझी के रूप में साकार किया है।

संदर्भ

1. सिंह, डॉ० जवाहर. (1988). 'शीराज़ा'. (हिंदी). जून–जुलाई. पृष्ठ **4.**
2. वही. पृष्ठ **2.**
3. मधुरेश. (1972). 'आलोचना'. जुलाई–सितंबर. पृष्ठ **50–51.**
4. मिश्र, डॉ० रामदरश. (1982). हिंदी उपन्यास : एक अंतर्यात्रा. राजकमल प्रकाशनः नई दिल्ली. पृष्ठ **231.**
5. चतुर्वेदी, महेन्द्र. (1962). हिंदी उपन्यास : एक सर्वेक्षण. नेशनल पब्लिशिंग हाउसः दिल्ली. पृष्ठ **209.**
6. मेघ, डॉ० रमेशकुंतल. (1975). क्योंकि समय एक शब्द है. लोकभारती प्रकाशनः इलाहाबाद. पृष्ठ **281.**
7. जैन, नेमिचन्द्र. (1989). अधूरे साक्षात्कार. वाणी प्रकाशनः दिल्ली. पृष्ठ **160.**
8. पाण्डेय, अरविंद. (1968). दिशाओं का परिवेश (संपा॰ ललित शुक्ल). वाणी प्रकाशनः दिल्ली. पृष्ठ **111.**
9. जैन, नेमिचंद्र. (1989). अधूरे साक्षात्कार. वाणी प्रकाशनः दिल्ली. पृष्ठ **136.**
10. सिंह, विजयबहादुर. (1982). नागार्जुन का रचना–संसार. संभावना प्रकाशनः हापुड़. पृष्ठ **117.**
11. रांग्रा, डॉ० रणवीर. (1982). हिंदी वाङ्मय : बीसवीं शती. (संपा॰ डॉ॰ नगेन्द्र). विनोद पुस्तक मंदिरः आगरा. पृष्ठ **219.**
12. सापट, तारा. (1970). प्रेमचंद के पात्र. (संपा॰ कोमल कोठारी, विजयदान देथा). अक्षर प्रकाशनः दिल्ली. पृष्ठ **206.**
13. चुघ, डॉ० सत्यपाल. (1968). प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों की शिल्प–विधि. इकाई प्रकाशनः इलाहाबाद. पृष्ठ **573.**
14. श्रीवास्तव, डॉ० शिवनारायण. (1968). हिंदी उपन्यास. सरस्वती मंदिरः वाराणसी. पृष्ठ 450.